नरेश मेहता के चिन्तन ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति

डॉ. मार्तण्ड सिंह,

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद
संघटक—पी.जी. कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लब्ध प्रतिष्ठ साहित्यकार श्री नरेश मेहता की साहित्यिक मान्यताओं को समझने के लिए हमें उनके ग्रंथ ''काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व'' पर विचार करना होगा। प्रस्तुत गं्रथ की भूमि की भूमिका में ही अपने विचारों को व्यक्त करते हुए नरेश जी लिखते हैं—''मेरा प्रयोजन काव्य के सम्बन्ध में कुछ चर्चा का रहा इसलिए काव्य के माध्यम से धर्म एवं दर्शन भी चर्चित हुए हैं।''[१] नरेश जी ने काव्य की बहुआयामी सृजन धर्मिता को समझते हुए धर्म एवं दर्शन से उसके तादात्म्य को स्वीकारा है, क्योंकि ऊर्ध्वगामी चेतनत्व की प्राप्ति उसके बिना संभव नहीं है। उनका मत है कि ''जांगलिकता से सांस्कृतिक्ता की ओर, देह से मन की ओर, जड़त्व से चेतनत्व की ओर मानवीय यात्रा सम्पन्न हुई, इसका एकमातत्र प्रमाण काव्य है। श्री नरेश मेहता की काव्य यात्रा का दूसरा और महत्त्वपूर्ण स्रोत उनका प्रकृति साक्षात्कार है। प्रकृति को उन्होंने एक नए रूप में ही देखा है। उन्होंने लिखा है—''जीवन-यापन की आदिम दुर्दान्त परिस्थियों ने तथा आत्मा सुरक्षा ने उसे निश्चय ही द्विपदिक आक्रमणकारी ही बना रखा होगा। लेकिन कभी तो ऐसे अवसर निश्चय ही आये होंगे कि जब प्रकृति की रम्यता ने उसे उसकी द्विपदिक पशुता से ऊपर उठाकर मानवीय उदारता का बोध करवाया होगा। जब बारम्बार प्रकृति की रम्यता से उसका हठात् साक्षात्कार होता रहा होगा।'' मानवीय उदात्तताओं की स्रोत स्थली तो प्रकृति है। कवि की इस दृष्टि का परिणाम है कि उसकी काव्यभाषा का विपुल अंश प्रकृति की ओर उन्मुख है।

नरेश मेहता मानव के उदात्त पक्ष पर बल देते हैं। मनुष्य के सन्दर्भ में नरेश जी मानते हैं कि ''इतना अविवादास्पद है कि मनुष्य मात्र देहधारी प्राणी ही नहीं है अत: वैâसी ही जांगलिक परिस्थितियाँ रही हों, वह अपेक्षाकृत चेतन प्राणी ही था। नेरश जी मानवीय अस्मिता के प्रति चिन्ताशील हैं—''मनुष्य की श्रेष्ठता काल एवं चेतना के ही कारण है अत: मानवीय विकास को पदार्थ के सामतलिक विकास का पर्याय मानना भूल है। देश और काल जड़ और चेतन का सम्बन्ध-सेतु मनुष्य है अत: ऊर्ध्व और समतल को मनुष्य ही व्याख्यायित तथा अभिव्यक्त करता है। मानव जीवन के सम्पूर्ण कर्म चक्र की एकमात्र शासिका यह चेतना ही है। काल निर्बाध, अरूप, असीम तथा असंज्ञ हैं क्योंकि वह चेतन है। इसीलिए भारतीय दृष्टि पदार्थिक न होकर मुख्यत: तात्विक है। अत: सृष्टि के सृष्टित्व की तात्विकता जानने के लिए पदार्थ या जड़ का माध्यम समीचीन नहीं क्योंकि सृष्टि का अर्थ ही है विस्तृति समाप्ति नहीं। समाप्त वही होता है जिसकी सीमा होती है—फूल का स्वरूप बीतता है न कि उसकी गंध या स्मृति। पदार्थ एवं चिन्तन के इस अन्तर को पहचानने वाला या वाहक हमार मन ही होता है। नरेश जी पदार्थ एवं ि◌ंचतन के भेद को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—''पदार्थ की अपनी सत्ता तो होती है परन्तु कोई गति नहीं। चिन्तन सत्ताहीन होने के कारण केवल गति है।''[२]

भारतीय अर्थ-चिन्तन परम्परा में जड़ीय प्रगति को कभी प्रमुखता नहीं दी गयी। जब आर्षता जड़ और चेतन दोनों स्तरों पर ''सोऽहं'' का उद्घोष करती है तब यही तात्पर्य है कि ''एकोडह बहुस्याम''

या ''सोहड'' ये आपत्तियाँ, अहं के महिमा मंडित उदात्त स्वरूप है। एक से अनेक होने की यह प्रक्रिया है। इसे बिलयन न कहकर विशाल होना कहा जायेगा। नरेश मेहता प्रस्तुत ग्रंथ में भारतीय संस्कृति की अजस्र धारा प्रवाहित हुई है—उन्होंने लिखा है कि ''भारतीय दृष्टि प्रयोजनवादी रही है। प्रयोजन से तात्पर्य आत्मिक आरोहता से है। इसीलिए हमारी वास्तुकला, चित्रकला तथा नृत्य जैसी भौतिक कलाएँ भी सीधे या प्रकारान्तर से धर्म से संयुक्त रही हैं। संगीत या काव्य जैसी सूक्ष्म कलाएँ तो अनिवार्यत: धर्म की अभिव्यक्ति रही हैं। काव्य का धर्म व्यक्तित्व ही मंत्र है। इस सन्दर्भ में भारतीय निस्पृहता को ही स्मरण रखना होगा। निस्पृहता भारतीय जीवन तथा दर्शन का मेरुदण्ड है। नरेश जी का सांस्कृतिक बोध ने यह पहचाना है। हमारे देश के किसी भी अंश से धर्म को अलग नहीं fकया जा सकता क्योंकि केले के स्तम्भ की पर्तों की तरह देश की प्रत्येक पर्त में व्यापक अर्थ में धर्म दिखाई देता है। देश की संस्कृति का आन्तरिक निर्माण काव्य, संगीत, नृत्य, चित्रकला, धर्म आदि से बनता है। धर्मानुभूति का वैसा महत्त्व है जैसा काव्यानुभूति का। जब धर्म को शब्द एवं अर्थ दिया जाता है तब वह काव्य होता है तथा जब ध्वनि और भाव दिया जाता है तब वह संगीत होता है। सांस्कृतिक समृद्धि क लिए दोनों में समरसता अनिवार्य है।

नरेश मेहता की दृष्टि मानवीय चेतना के क्रमिक विकास पर केन्द्रित है। इस मानवीय विकास को समझने का हमारा माध्यम, भाषा है। भाषा न यात्रा है न यात्री, वह तो केवल मार्ग है। नरेश मेहता लिखते हैं कि ''अन्य जीवों से मनुष्य श्रेष्ठ इन्हीं अर्थों में है कि दूसरे प्राणियों की अपेक्षा उसके पास भाषा है जिसे उसने ध्वनि के स्तर से ऊपर उठाकर अर्थ का स्वरूप दिया। प्राय: जीवों के पास ध्वन्यात्मक भाषायें हैं, जिन्हें संकेत–भाषायें कहा जा सकता है। इस प्रकार की संकेत–भाषायें अर्थ नहीं बना करता बल्कि आदेश या सूचना प्रधान होती है। मनुष्य ने अपनी भाषा को आदेश या सूचना प्रधानता के स्थान पर अर्थ प्रधान बनाया।''[३]

नरेश जी यह कहना चाहते हैं कि भाषा ही वह माध्यम है जिसके आधार पर हम निश्चित रूप से अपने को पशुबोध से ऊपर चेतन सत्ता के रूप में पहचाना जा सके। मनुष्य के रूप में हमें जो भाषा प्राकृत रूप में प्राप्त हुई है, उसे अधिकाधिक संस्कारित बनाकर ही हम श्रेष्ठ मानव बन सकते हैं।

भाषा का हमारा प्रकृत सम्बन्ध होता है। संस्कार का तात्पर्य ही होता है प्रकृत को प्रकृत न रहने दे बल्कि विशेष प्रयोजन के लिए दिशा-विशेष की ओर उन्मुख करे, संस्कारित करें। व्यक्ति की मानसिकता के उत्तरोत्तर विकास और जीवन के सूक्ष्म प्रयोजन के लिए विकसित एवं संस्कारी भाषा की आवश्यकता होती है। उन्नत एवं उदात्त मन: स्थिति के लिए ज़रूरी है—प्रचलित शब्दों की नई अर्थवक्ता प्रदान करना तथा दूसरे नए पर्याय खोजना। रचनाकार का तेजस् व्यक्तित्व ही नई भाव दशा के अनुरूप अर्थ प्रधान शब्दावली और पर्याय खोजता है। नरेश जी लिखते हैं—''प्रत्येक शब्द का अपना इतिहास होता है कोई शब्द किसी का पर्याय नहीं हुआ करता। समान अर्थ के बोधक दो या दो से अधिक शब्द हो सकते हैं, होते भी हैं पर वे पर्याय नहीं हुआ करते। पार्थिव-पूजा को मिट्टी-पूजा कहना अनर्थ होगा जबकि मिट्टी एवं पार्थिव समानार्थी शब्द हैं। संस्कारी भाषा द्विजरूपा होती है। जो भाषा जितनी अधिक संस्कारित होगी उसके दो लक्षण स्पष्ट होंगे एक तो यह कि उन भाषा का सामान्य स्वरूप भी अपनी दैनन्दिनता मे शीलवान लगने लगेगा। दूसरे संस्कारी भाषा अपने विशिष्ट रूप में धर्ममयी होगी। ऐसी धर्ममयी संस्कारी भाषा अनिवार्यत: व्यक्ति को, जाति को उदात्त बनाती है। अभिप्राय यह है कि कवि ने काव्य को मानवीय औदात्य और गरिमा की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार कर संस्कारशील भाषा पर जोर दिया है।

जहाँ तक काव्य के वैष्णव-व्यक्तित्व का प्रश्न है–कवि ने राम को मानव मूल्यों के प्रज्ञाप्रतीक के रूप में प्रस्तुत कर मानवीय मुक्तता एवं उदात्तता की प्रतीति कराई है, जिससे व्यक्ति विपरीतताओं की

तात्विकता को आत्मस्थ कर निस्पृहता और अनासक्ति की भूमिका पर खड़ा हो सके।

जब तक व्यक्ति अत्यन्त ख्यात नहीं हो जाता तब तक समाज को पता ही नहीं चलता कि कोई ऐसा भी व्यक्ति है जो वर्षों से आरात्रिक, सामाजिक सुख-दु:ख से प्रताड़ित निरन्तर सुजना करता चला जा रहा है। महान सृजनकर्त्ता जिनमें अंत: प्रेरणा भी प्रचुर मात्रा में होती है वे अपने समय के गहनतम सुख-दु:ख और अन्तर्विरोध के प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं करता। समकालीन सामाजिक उपेक्षा के शिकार महाकवि निराला ने—'धिक जीवन पाता ही आया विरोध' कहकर सृजनशील रहे। वहीं नरेश मेहता लिखते हैं कि—उदात्त व्यक्तित्व की निर्मित के पीछे यह प्राथमिक आवश्यकत शर्त रही है कि उसका व्यक्तित्व ''स्व'' के लिए नहीं बल्कि ''पर'' के लिए है। यह चुनौती ही जब अभिव्यक्ति के स्तर पर अपनी नितान्तता में अभिव्यक्ति होती है तब काव्य सृजन होता है। ''अत: जब कवि व्यक्तित्व का अहं दृष्टा की भावातीतता से जुड़ता है तब अहं का विलयन, विसर्जन या उदात्तीकरण होने लगता है। नरेश जी मानव के उदात्त पक्ष पर बल देते हुए काव्य के माध्यम से विराट चेतना से साक्षात्कार करते हैं। नरेश जी लोक संग्रह से तो नहीं पर लोकानुग्रह से बंधे हुए हैं। अपनी मुक्ति से उन्हें सन्तोष नहीं, वे मुक्ति को काव्य के माध्यम से सब के पास पहुँचाना चाहते हैं।

नरेश जी के काव्य का वैशिष्ट्य इस तथ्य में निहित है कि वह पाठक को समर्पण की इस कला में दीक्षित करता है कि उनका व्यक्तित्व ''स्व'' के लिए नहीं बल्कि ''पर'' के लिए है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में—काव्य प्रथमत: आत्माभिव्यक्ति है पर अनिवार्यत: ''पर'' के प्रति सम्प्रेषण भी। यह ''पर'' पर निर्भर करता है। कि वह कितना कुछ इस आत्माभिव्यक्ति के प्रति सम्प्रेषित या सम्बोधित होता है।'' नरेश जी की दृष्टि में काव्य मानवीय औदात्य की अभिव्यक्ति है। काव्य का प्रयोजन आद्यन्त उदात्तता ही रहा है। काव्य की उदात्तता से तात्पर्य है कि वह केवल अपने सृष्टा रचयिता की गरिमा महत्ता का बोध न करवाए, बल्कि पाठक की गरिमा तथा स्वत्व को भी सम्बोधित जाग्रत तथा उदात्त करे। कवि कर्म की सबसे बड़ी कसौटी भाषा है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति भाषा के माध्यम से ही भावनात्मक यात्रा करता है। किस बिन्दु पर अभिव्यक्ति कविता बन जाती है और कहाँ वह कथन मात्र बनकर रह जाती है इसका निर्णायक तत्त्व भाषा ही है। भाषा न केवल हमें अभिव्यक्त ही करती है वरन् उदात्त भी बनाती है। नरेश मेहता लिखते हैं—जिस क्षण व्यक्ति कविता के लिए भाषा का प्रयोग करता है वअ अनायास ही भाषा के भी उदात्ततम स्वरूप को ही पकड़ता है। ± ± ± अत: काव्य की भाषा अनिवार्यत: द्विज-भाषा होगी। काव्य की उदात्त भूमि को अनुदात्त भाषा अभिव्यक्त नहीं कर सकती। ± ± ± काव्य भूमि के उत्तरोत्तर उदात्त होने का मतलब ही है भाषा ओर व्यक्ति का उदात्तर होना। उदात्तता की अन्तिम स्थिति है—निपट सहजता।''[४]

नरेश जी उदात्तता को ही काव्य भाषा का सर्वश्रेष्ठ गुण मानते हैं इसी श्रेष्ठता के कारण ही काव्य हमें आनन्द देता हैं। अठारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध आलोचक लांजायनस ने काव्य को उदात्तता की कसौटी पर रखकर लिखा है—''हृदय को स्पर्श करना काव्य का सर्वश्रेष्ठ गुणकाव्य तभी हृदय का स्पर्श कर सकता है जब उसके अंतरंग और बहिरंग दोनों में उदात्तता हो। वह हृदय के इसी संस्पर्श को काव्य का सहज-प्रभाव और उसका मूल्य मानता है।''

नरेश जी की भाषा का स्वरूप बहुत दूर तक इस देश की आर्ष िंचतन परम्परा से निर्मित हुआ प्रतीत होता है। स्वयं नरेश मेहता काव्य के वैष्णव परम्परा के विषय में लिखते हैं—''वैष्णवता से तात्पर्य क्या है? वैदिक कवि को जो सबसे बड़ी सुविधा प्रापत थी, वह थी अपने अनुकूल परिवेश की। सामाजिक दबाव या तो था ही नहीं या नाम मात्र का रहा होगा। वैदिक कवि सही अर्थों में स्वतन्त्र था—मानवयी परिवेश, सामाजिक आचार-व्यवहार, व्यक्तित्व संरचना अभी जटिल नहीं हुए थे। वर्चस्व के नाम पर मनुष्य की चेतना ही प्रखर रूप से जाग्रत एवं तपस्यारत थी। अस्तु वैदिक ऋषि की अपेक्षा

भक्तिकाल के कवि के समक्ष सामाजिक जटिलताएँ अपनी कुरपताओं में विद्यमान थीं। बौद्धों, नाथों और कापालिकों की नास्तिकता एवं अनीश्वरता से सामाजिक व्यक्ति मानस जर्जर हो उठा था तो दूसरी ओर संसार की सबसे अविवेकपूर्ण धर्मान्धता-मुस्लिम-एकेश्वरवादिता अपने मध्यकालीन बर्बर नग्न ताण्डव में सक्रिय थी। जातीय जीवन लौकिक स्तर पर खण्ड-खण्ड विच्छिन्न होकर संस्कारहीन हो चुका था। जातीय जीवन में विश्वास की स्थापना-नारायण भागवत और वैष्णव इन तीन सोपानों पर की गयी।

भक्ति युग की यह प्रज्ञात्मकता वस्तुत: दो प्रमुख दृष्टियों का समन्वय है—शैव और वैष्णव। पृथ्वीतर जो सृष्टि की अखण्डता है, शैव दृष्टि उसका प्रतिनिधित्व करती है जबकि वैष्णव दृष्टि इस धरती की दैवीय सुगन्ध को महत्त्व देती है। इसीलिए शिव अजन्मा है, अक्षर है, शाश्वत है जबकि विष्णु नानाजन्मा है, अवतरित होते हैं और भिन्न-भिन्न गंध प्रस्फुटित करते हैं।

क्या है यह वैष्णवी संपूर्णता ?

''वैष्णवता'' केवल एक शब्द तो नहीं है, एक पूरी संस्कारिता है, पूरा जीवन-दर्शन है। कवि के ही शब्दों का प्रयोग करे तो जांगलिकता से सांस्कृतिक्ता की ओर देह से मन की ओर, जड़त्व से चेतनत्व की ओर जो मानवीय की यात्रा है उससे यह वैष्णव भाव जुड़ा हुआ है। जो पाठक इस पुराण-परम्परा से विछिन्न है, उसके लिए वैष्णवी सम्पूर्णता को समझ पाना उतना सुकर नहीं। एक दो प्रयोग नहीं पूरा नरेश मेहता का काव्य इस आर्ष-सम्पदा से परिपूर्ण है।''

आगे नरेश जी लिखते हैं कि ''कला, कला के लिए'' तथा कला, जीवन के लिए, आदि तर्क न केवल अभ्यार्थिक ही है अपितु साहित्य में राजनीतिक हस्तक्षेप है। कहा जा सकता है कि इस प्रकार के तर्क अभारतीय भी हैं। ''भारतीय दृष्टि में'' कला कला के लिए है'' अथवा जीवन के लिए? यह प्रश्न वहीं समाप्त हो जाता है जहाँ यह समझ लिया जाता है कि कलाकार समष्टि से अलग नहीं है। कारण दोनों के जीवन का उद्देश्य है—''उस परम लक्ष्य की खोज।'' अत: जहाँ कला का अन्तिम लक्ष्य आनन्द है वहाँ ही उसका अन्तिम लक्ष्य भी ''आनन्द'' ही है। अत: यह प्रश्न निर्विवाद है। भारतीय काव्य या साहित्य का स्थान भारतीय जातीय जीवन में वैसा ही नहीं है जैसा कि पश्चिम के जातीय जीवन में उसके साहित्य का है। भारत और पश्चिम में एक मूलभूत अन्तर है और वह यह कि भारत में समस्त चिन्तन एवं व्यवहार धर्ममय है न कि धर्मबद्ध। पश्चिम में या अन्य सभी जगह जीवन की सारी गतिविधियाँ समरस न होकर विभाजित हैं फलस्वरूप यदि धर्म कहीं केन्द्रीय रूप में है भी तो वहाँ का जीवन धर्ममय न होकर धर्मबद्ध ही है। ईसाई काव्य के द्वारा ईसाई जीवन को धर्ममय बनाने की भी चेष्टा नहीं मिलती। ईसाई काव्यान्दोलनों में कहीं भी भक्तिकाल जैसी चीज़ के दर्शन नहीं होते िंचतन एवं आचरण के स्तर में बड़ा भेद मिलता है, वह यह कि भारतीय धर्म अपने साधनात्मक आग्रह के कारण व्यक्ति को प्राधान्य देने पर भी सम्पूर्ण समाज को कर्मकाण्ड के द्वारा सम्बोधित करता चलता है जबकि ईसाई और इस्लाम धर्म घोषित रूप से भ्रातृत्व की घोषण के बाद इस बारे में चिन्तन की दृष्टि से शून्य है। ईसाई कवियों में सम्भवत: मिल्टन ही एक ऐसे कवि दिखाई देते हैं जो अपनी रचनात्मकता को ईसाई धार्मिकता के साथ जोड़ने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार की चेष्टाएँ वैसे तो निरन्तर होती रही है जिनमें गेटे, रोम्यां रोला, तोल्सतोय, इलियट आदि का कृतित्त्व महत्त्वपूर्ण है लेकिन धर्म के प्रति ये सब बौद्धिक यात्रायें ही अधिक हैं। इन्हें वैसी उत्कृष्ट कामना, अदम्य पिपासा नहीं जैसी कि कबीर, तुलसी, सूर या मीरा में है।

भारत में साहित्य कब धर्म बन जाता है और धर्म वैâसे साहित्य, समझ में नहीं आता। हमारे देश में धर्म एवं साहित्य पानी में नमक की तरह घुल मिल गये हैं। क्योंकि स्वान्त: सुखाय लिखी गयी एक असंपृक्त संत की रघुनाथ गाथा काल के प्रवाह में कोटि-कोटि जनों के सुख का कारण अहोरात्र बनती जा रही है। भारतीय जीवन दृष्टि समरसता की है, सर्वे भवन्तु सुखिन: की है। वैष्णवता के लिए सारा जगत सुखमय,

धर्ममय है। वैष्णव का मैं नहीं हूँ, पभु है। वे प्रभु को पूर्ण-समर्पित, व्यक्ति विसर्जित अनाग्रही सेवक हैं। वैष्णव आन्दोलन ने अनीश्वरवादी दुरवस्था से भारतीय समाज को सम्पूर्ण रूप से खण्डित होने से बचा लिया क्योंकि ''अनीश्वरवादिता केवल ईश्वर की सत्त पर ही आक्रमण नहीं है बल्कि इससे बड़ी बात यह है कि वह व्यक्ति को नितान्त अकेला कर देती है। भारतीय धर्म दृष्टि ने प्रभु के अवतार कराकर उन्हें मानवीय कुल गोत्र प्रदान कर मानव स्तर प्रदान किया और मानवीय सहज सम्बन्ध जोड़े। ईसाई धर्म दृष्टि के अधूरेपन के कारण व्यक्तित्व में दरार उत्पन्न हुई थी। अन्त में वह उसी के प्रति सारे तर्क सौंपकर नि:शेष हो जाता है। भारतीय सन्दर्भ में ऐसी प्रति असहयोगिता की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। टी.एस. इलियट में भी ऐसा ही द्वन्द्व है। काव्यात्मकता की कसौटी वह नीति को मानता है जो आनन्दानुभूति में सहायकत हो। वह धर्म उसे मानता है जो नीति का स्रोत हो। धर्म का अर्थ है—वैâसे जिया जाय'' का ज्ञान प्राप्त करना जिस साहित्य में ऐसी धार्मिक प्रबुद्धता बिना किसी सजग प्रयास के व्याप्त रहती है वही साहित्य श्रेष्ठ होता है और यही गुण उसे साहित्य संज्ञा प्रदान करता हैं काव्यात्मकता की दृष्टि से उसे भारतीय औपनिषद्कता आकर्षित करती है परन्तु ईसाई मतावलम्बी होने के कारण वह साभास ईसाई धर्म की ओर लौट जाता है।

भारतीय काव्यात्मकता मिथकों के सहयोग से अपने को धर्म दृष्टि के स्तर तक विकसित करने की चेष्ट करती रही है, इसलिए भारत में ऋषि और कवि प्राय: पर्याय रूप रहे हैं जबकि अन्यत्र ऐसा नहीं हुआ है।

नरेश मेहता की पूरी काव्य-यात्रा से गुजरते हुए मुझे लगा कि उनमें अपने प्राचीन मिथकों के प्रति गहरी आस्था का भाव है। वे लिखते हैं—''काव्य में वैसे तो कई प्रकार से धर्म-दृष्टि सहयोग करती है, लेकिन सबसे बड़ा उसका योगदान होता है—''मिथक''। किसी भी संस्कृति के काव्य के ''मिथक'' धर्म प्रदत्त ही होते हैं। काव्य अधिक से अधिक बिम्ब, प्रतीक या पैंâटेसी का ही निर्माण कर सकता है। ''मिथक'' का नहीं। मिथक समाज के सांस्कृतिक संघर्ष की निरन्तर प्रक्रिया है जिसका साक्षात् धर्मदृष्टि ही करती है।

अनुभव के जिस बिन्दु पर धर्मदृष्टि समग्र होती है, वहाँ एक 'मिथक' का जन्म होता है। एक सम्पूर्ण समाज जब प्रदीर्ध काल तक ऐतिहासिक अनुभव से गुजरता है, तब मिथक प्रादुर्भूत होता है।''[७] मिथक कल्पना नहीं होते, बल्कि अपने में से नयी कल्पनाओं को, नवीन उद्भावनाओं को जन्म देते हैं। मिथक पैंâटेसी भी नहीं होते, क्योंकि पैंâटेसी अमूर्त हो सकती है, पैंâटसी की सीमा यह है कि वह प्रकृत्या अमूर्त होने के कारण, रचना क्षमता के बावजूद अपने सम्बोधन में सार्वजनीक नहीं हो पाती। मिथक जातीय सम्पदा होती हैं। अत: जब भी ऐसे किसी मिथक का प्रयोग किया जायेगा, तब यह माना जाये कि उक्त रचना का प्रयोजन जातीय सम्बोधन करना है। इस प्रकार के सम्बोधन के लिए कवि की इतनी स्वतंत्रता प्राप्त है कि उक्त मिथक को नयी रचनात्मक मुद्रा तो दी जा सकती है, परन्तु उसकी धर्मदृष्टि नहीं बदली जा सकती है। समाज के विकास के साथ-साथ मिथक भी विकसित होते गये। वाल्मीकि के राम से लेकर निराला के राम तक की यात्रा के बीच राम के सैकड़ों स्वरूप मिल जायेंगे, जो आपस में प्रति-विपरीत भी होंगे। स्वयं भक्तिकाल में 'राम' काव्य का एक ऐसा मुहावरा बन जाते हैं, जो कि कबीर जैसे विद्रोही कवि को भी अपने अनुकूल लगता है और पारम्परिकता के आग्रही तुलसी दास के तो वे आराध्य हैं ही। राम जैसे आधारभूत मिथक, विकसित होते हुए आज हमारे बीच इस प्रकार कथा ही न स्थिति में खड़ा हुआ है कि इसमें कहीं भी धर्म के जड़ रूप रूढ़ि की गंध तक नहीं आती। धर्म के जिस सत्य का साक्षात्कार इस 'मिथक' के द्वारा किया, वह देश काल की नाम रूपता से भी परे था। जिस धर्म ने भारतीय जनमानस को धर्मदृष्टि प्रदान कर धर्ममय किया, वह विवेक का एक इतिहास है न कि जाँत-पाँत छुआ-छूत या चूल्हे-चौके की मृत मुमूर्ष रूढ़िया। धर्म का अतीत सामाजिक जीवन का कंकाल न समझना चाहिए वह उसके युग-युगीन हेतु भूत प्राण रहा है। जो कि एक सनातन ज्ञान से अभिन्न

है। सामान्यतया धर्म से नैतिक-मूल्य और उनकी चेतना का बोध होता है। विधि-निषेध की नाना व्यवस्थाओं और संस्थाओं में रामायण, महाभारत के आदर्श-चरित्रों में और प्रचलित कथाओं में व्यक्त होकर धर्म की यह नैतिक चेतना समाज में अनवरत व्याप्त रही है।''

भारत में जब-जब साहित्य ने इस धर्मदृष्टि से अपने को अलग किया है, तब-तब उसकी स्थिति विषम ही हुई है। मध्ययुग में उसे राजाश्रय प्राप्त करना पड़ा और चारण तथा चाटुकार तक बनना पड़ा। आज के हमारे युग में साहित्य जिस मरुता में पहुँच चुका है वहाँ साहित्य के भावी सृजन तक पर प्रश्न चिह्न लगता जा रहा है। भारतीय सन्दर्भ में तो मुझे धर्म या धर्मदृष्टि से डरने की कोई आवश्यकता नहीं दिखती, क्योंकि ये दोनों ही हमारे यहाँ ऐसे जड़ या स्थि बिन्दु नहीं कि जो मनुष्य के वैचारिक, सामाजिक चिन्तन विकास के साथ क्रमिक विकसित न हुई हो। देखना यह चाहिए कि धर्म, समाज, चिन्तन, साहित्य आदि विकास प्रक्रिया में से गुजर रहे हैं कि नहीं। धर्मदृष्टि और काव्यात्मक दृष्टि की जिस एकता की बात हमने पहले कही है, उससे हमारा तात्पर्य है कि भारतीय चिन्तन में वे दोनों ही बातें 'धर्म' संज्ञा में अन्तर्भूत है, जो कि दर्शन और काव्य के द्वारा जानी जाती है। दर्शन की तार्किक जिज्ञासा और काव्य की रमणीय स्वीकृति दोनों ही दर्शन के द्वारा अभिव्यक्त होती है। सम्भवत: इसीलिए भारतीय धर्म, चिन्तन अपनी जिज्ञासा में भी सदा काव्यात्मक रहा है तथा यहाँ काव्य अनिवार्यत: दर्शन प्रधान है। यहाँ नरेश जी साहित्यकार के लिए धर्म-दर्शन की चिन्ता को अनिवार्य मानते हुए लिधते हैं कि—''दर्शन धर्म का बोध रूप है और काव्य उसकी मार्मिकता, इसीलिए अगत्या धर्मदृष्टि काव्यात्मक दृष्टि ही बन जाती है। धर्मदृष्टि ने दर्शन के स्तर पर जिसे 'सोडह' की उद्घोषणा की उसका आचरण रूप ही अिंहसा था। करुणा और अिंहसा के ऊपर की मानसिकता है, 'सोडहं'। धर्म का परात्पर रूप 'सोडहं' है, तो चराचर के बीच वह अिंहसा रूप में विद्यमान है जैसे कि करुणा रूप बनकर वह मानवीय स्तर पर संचरित है।''[८]

नरेश मेहता जी के काव्य का वैष्णवी व्यक्तित्व हमारी प्राचीन वैष्णवी परम्परा से प्रसूत है। वैष्णव भक्ति परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। विष्णु एक वैदिक देवता है। वेदों में इनका स्थान विशेष महत्वपूर्ण नहीं माना गया है। सर्वप्रथम 'ऐतरेय-ब्राह्मण' में विष्णु को सम्मानित पद प्राप्त हुआ। 'शतपथ-ब्राह्मण' में विष्णु का महत्व और बढ़ गया है। महाभारत में विष्णु के छ: अवतारों—वाराह, नृ◌ंसह, वामन, भार्गवराम, दशरथिराम, वासुदेव कृष्ण में से एक माना गया है। महाभारत से ही यह सूचना मिलती है कि 'एकांतिक' नारायणीय, पंचरात्रिक, सात्वत और भगवत ये सभी धर्म वैष्णव परम्परा के अन्तर्गत है। कालान्तर में उपनिषदों का तत्व-चिन्तन भी मानव की राग-भावना को तुष्ट करने में असमर्थ हुआ और भक्ति प्रधान धर्म की आवश्यकता का अनुभव किया गया।

भागवत या वैष्णव धर्म इसकी पूर्ति में सहायक हुआ। ईश्वर प्राप्ति में मात्र प्रेम को ही केन्द्रीय तत्व मानने के कारण इस धर्म का लोक व्यापी प्रचार हुआ और आर्येतर जातियों को भी इसमें स्थान प्राप्त हुआ। ''भक्तिकालीन सन्तों एवं कवियों ने वैष्णव-धर्म को धार्मिक आधार प्रदान किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि जब मनुष्य भक्ति से अभिप्रेरित होकर ईश्वर को आत्म समर्पण कर देता है, तब ईश्वर की 'अनुकम्पा' अथवा 'प्रसाद' से उसे मुक्ति मिल जाती है। वैष्णव उपासक अपने की मूर्ति को श्री विग्रह या अर्चा कहते हैं और उसे स्वयं ईश्वर का एक रूप या देवता मानते हैं। ईश्वरीय सत्ता अवमार के रूप में पुन: पृथ्वी की बान्धवता, कुलगोत्र को स्वीकार कर लौटी और भक्ति युग इन्हीं अवतरणों का रागात्मक महारास गायन-कीर्तन बना। पुराणों ने इसकी आधारभूमि पहले ही तैयार कर दी थी।''९ उपरोक्त काव्यात्मकता ही धर्म का वैष्णव व्यक्तित्व है, जबकि दर्शन उसका शिव रूप है। वह समस्त जैविकता के धारक है। जीवन उनसे नि:सृत हुआ है। न कि जीवन ने उन्हें उत्पन्न किया है। शिवत्व अप्राप्यावस्था ही है, जो प्राप्यावस्था है वह वैष्णवत्व ही है। शिव की करुणा वैष्णवता है। इसीलिए धर्म की काव्यात्मकता ने शिव की इस वैष्णव गंध को ही अपनाया जब कि दर्शन ने इस वैष्णवता के

सोडहं रूप की अरूपतावाले शिवत्व एवं वैष्णवत्व में तत्वत: कोई अन्तर नहीं है। वैष्णवी ऊर्ध्वोन्मुखता ही शिवत्व है और शिवत्व की अवतारणा ही वैष्णवता है। दर्शन और काव्यात्मकता का यह अनाविल चक्र ही धर्मचक्र है। धर्मचक्र जब ऊर्ध्वोन्मुखी होती है, तब वह दर्शन होता है और जब वह अवतरण करता है तक काव्य होता है।

काव्य का यह वैष्णवी—व्यक्तित्व दो आयामी हैं—राम और कृष्ण। राम और कृष्ण जीवन के प्रति वैष्णवता के ये दो ऐसे सम्बोधन हैं, जो कर्त्तव्य एवं लालित्य पर बल देते हैं। मानवीय व्यक्तित्व में मर्यादा और उन्मुक्तता के दो परस्पर विरोधी पक्ष हैं, जिन्हें राम और कृष्ण के माध्यम से वैष्णवता ने व्याख्यायित तथा विरचित भी किया।

''रामकथा का मूलाधार है—मर्यादा। राम और सीता से सम्बद्ध जो एकान्त स्थल हैं, वे अपनी रमणीयता के बावजूद मर्यादित है।इसीलिए कौटुम्बिकता, पारिवारिकता, बन्धु-बान्धवता या राष्ट्रीयता के प्रति उत्सर्गित मर्यादा का नाम ही राम है। इसीलिए वल्लभ सम्प्रदायी होने पर भी गांधी को राम ही आदर्श लगे। पूरीरामगाथा में सामाजिक मर्यादा धनुष पर खिचें हुए बाण की तरह कार्य करती है। कितनी ही मर्मस्थल तथा करुण स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, परन्तु राम का वैष्णवी व्यक्तित्व सिन्धु के समान अमर्यादित नहीं होता।'' वाल्मीकि में भी राम समस्त आलोड़ित हो जाते हैं, परन्तु अमर्यादित वहाँ भी नहीं होते। तुलसी राम का चरित्र चुनते हैं अपने लिए जो मर्यादा पुरुषोत्तम है और हर तरह से आदर्श के प्रति रूप है। ईश्वर में पूरी आस्था और मनुष्य का पूरा सम्मान ये दोनों दृष्टियाँ तुलसी में एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। ''सिया राम मैं सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी।'' जैसी पंक्तियाँ इस गहरे आत्म विश्वास पर लिखी जा सकती हैं, जहाँ ईश्वर एवं मनुष्य दोनों की एक साथ प्रतिष्ठा हो। 'सियाराम' यदि उनकी भक्ति के आश्रय स्थल हैं, तो 'सब जग' उनके रचना कर्म के लिए। रामगाथा उत्तर और दक्षिण के दोनों भूभागों को समेटती है। यदि रामगाथा का मात्र लौकिक या साहित्यिक प्रयोजन होता, तो इस त्रासद कथा का अन्त अनेक प्रकार से सम्भव था। यदि राम की वैष्णवी वर्चस्विता ले ली जाये, तो राम के व्यक्तित्व में एक प्रकार का हेमलेट तत्त्व निहित है, परन्तु भारतीय काव्यात्मक दृष्टि की यह प्रारम्भिक शर्त है कि घटनात्मक कौतूहलता के माध्यम से जीवन की व्याख्या नहीं की जायेगी। राम की ऐकान्तिकता में आद्यन्त एक ऐसा व्यक्तित्व दिखलाई देता है, जिसमें शेक्सपीयर के पात्रों की झलक दिखाई देती है। परन्तु मानवीय चरित्र की इस यथार्थ आधारभूमि पर वैष्णवी करुणा ने मर्यादा का एक ऐसा प्रासाद खड़ा किया कि राम की परिकल्पना चरित्र से ऊपर उठकर 'मिथक' बन जाती है 'किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व' सम्पूर्ण जातीयता का पर्याय बन सके, काव्यात्मकता के प्रति यही वैष्णवी दृष्टि है। फलत: राम जैसा समर्थ परन्तु त्रासद मिथक-पुरुष विश्व साहित्य में नहीं प्राप्त होता।[११]

सूर का पक्ष कृष्ण का है, जिन्हें लीला पुरुषोत्तम कहा गया, जो यथार्थ के हर पक्ष से निपटने को तैयार हैं, पूतना से लेकर दुर्योधन तक और जिनका पति की अपेक्षा प्रेमी रूप अधिक चित्रित है।

बीसवीं शती में ऐतिहासिक स्तर पर जब पुनर्जागरण की आवश्यकता हुई तब वह पुनर्जागरण लौकिक जड़ता के लिए नहीं था, बल्कि धार्मिक चैतन्यता के लिए था। विवेकानन्द और गांधी ने इस चिन्मयता को सम्बोधित किया, जिसकी दूरागत अनुगूंज रवीन्द्र, प्रसाद जैसे कवियों में हम पाते हैं। प्रसाद इस भक्तियुग की वैष्णवता से जुड़ने के स्थान पर वह शैवता के प्रति आकृष्ट हैं। यह सर्वथा नयी भावभूमि थी। अत: कठिन थी। 'प्रसाद' में एक आश्वस्ति का स्वर है, जो अन्य छायावादी कवियों में नहीं रहा। छायावाद उस प्राचीन धर्मदृष्टि का आभास देने की चेष्टा करता है, जो कि उपनिषद् काल की लगती है। भक्तिकाल की वैष्णवता से वह अपना सम्बन्ध अनेक कारणों विशेषकर राजनीतिक कारणों से स्थापित नहीं कर सका। छायावाद के बाद कामदृष्टि न केवल आत्मनिष्ठ ही हुई बल्कि अराजकतावादी हो गयी। आज के कवि पर आन्तरिक और बाहरी सभी

प्रकार के दबाव हैं। देश में हुए परिवर्तनों औद्योगिकीकरण, नगरीयता का बढ़ना आदि अनेक कारण है। जिनके अन्तर्गत आज का कवि मानस संरचित है। स्वाधीनता के पूर्व तो बाहरी दबावों से लड़ने के लिए राष्ट्रीयता स्वर पर स्वत्व जगाया गया था, परन्तु स्वाधीनता के तत्काल बाद से अदूरदर्शी प्रशासकों ने राष्ट्र विचारक बुद्धिजीवियों, लेखकों से यह सुरक्षा कवच भी छीन लिया और कहा गया कि विश्व मनस के निर्माण युग में राष्ट्रीयता प्रतिक्रिया है। गत पच्चीस वर्षों में बाहरी दबाव राष्ट्रीय मेधा की सहन शक्ति से परे हो गया है। फलत: वस्त्रों से लेकर विचारों तक विदेशों से आयात करनेवाले देशों में हम अग्रणी है। आज हमारा राष्ट्रीय और जातीय स्वत्व आयातित स्वत्व हो गया है, इस वैचारिक दारिद्रय का नतीजा यह हुआ कि हम अपनी आरण्यकता, शैवता, वैष्णवता सभी कुछ न केवल खो बैठे हैं, परन्तु हम फिर एक बार उसी अन्ध-युग की विस्मृत जाति और देश हो गये हैं, जो कि पूर्व वैष्णव युग में थे। अभी सब कुछ नष्ट हुआ नहीं लगता, क्योंकि हमारे देश के सामान्य जनजीवन से वैष्णवता अभी पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुई है। अभी भी भक्तियुग के दृश्य देखे जा सकते हैं—

भक्त कवियों ने काव्य के आनन्दोत्सव के समय उपस्थित रहने के लिए एक भिन्न मार्ग का अनुशरण किया कि वे रचयिता ही नहीं है। प्रभु को पूर्ण—समर्पित, व्यक्ति विसर्जित अनाग्रही सेवक हैं। यदि वे नहीं होंगे, तो प्रभु की सेवा कौन करेगा? इस प्रकार की सीमा तक अव्यक्ति बन जाने का संकल्प शायद आज के कवि को स्वीकार न हो पर यह भी एक मार्ग है—बहुत कुछ निरापद। व्यक्ति-विस्तार के बहुस्याम हो जाने की निष्पत्ति औपनिषदिकता है, तो व्यक्ति—समर्पण की निष्णात प्रतिश्रुति वैष्णवता है। अहं, अहं का विलयन स्व का विस्तार—औपनिषदिक प्रक्रिया है, जबकि वैष्णव भक्ति-दृष्टि अहैतुक कृपा प्रभु की अनुकम्पा, नित्य का सानिध्य, सेवा की निकटता की कामना में विलीन होती है। प्रयोजन और परिणति की दृष्टि से दोनों एक ही हैं। उपनिषद् यदि पुरुषार्थ भाव है, तो वैष्णवता कृष्णार्पण। उपनिषद् में यदि अर्जन का वर्चस्व है, तो वैष्णवता में अनुकम्पा की प्रशान्तता। यह वैष्णवता नरेश मेहता की काव्य भाषा को संस्कारित करती है, किन्तु इतना ही काफी नहीं है कि हम किसी कवि के स्रोत स्थलों को खोज निकाले और सन्तोष कर लें कि हमने उनकी काव्यभाषा के स्वरूप को पहचान लिया है। काव्य-भाषा का गहरा सम्बन्ध काव्यानुभुति से है और काव्यानुभुति की पूरी समझ के लिए हमें और अधिक उस रचनारत मानस की गहराई में झाँकना होगा।

जब हम नरेश मेहता की काव्य-भाषा की अन्विति को स्वायत्त करने हेतु अग्रसर होते हैं, तो सब से गहरी विशिष्टता उसकी वैष्णवता एवं भाववाचकता प्रतीत होती है। उन्हें यह सृष्टि अपनी वैष्णवता में ही आहलादित करती है। प्रत्येक संज्ञा अपने संज्ञात्व से आगे बढ़कर अपनी भावात्मकता में ही उन्हें संवेदित करती है। उन्हें वनस्पति उतनी प्रभावित नहीं करती, जितनी वानस्पतिकता, वैष्णव उतना प्रभावित नहीं करता जितनी वैष्णवता, वृन्दावन उनके मन को उतना नहीं स्पन्दित करता जितनी वृन्दावनता। वानस्पतिक—प्रियता, उत्सव वैष्णवता, वैष्णवी-सम्पूर्णता, आकाश की नीलवर्णता, राग की असमाप्तता, तापसी कुन्दनता, विशाल-कौटुम्बिकता, उपनिषदीय आश्रमता, कारुणी असंगता, चपल कौतूहलता, वासुदेविक प्रकम्पितता, वैदिकता, आरण्यकता, वानस्पतिक, ऊर्ध्वता, अनुग्रह जैसे प्रयोग कवि—व्यक्तित्व की एक ढलान की ओर निर्भ्रान्त संकेत करते हैं और वह ढलान है वस्तु की आन्तरिक सत्ता, भाव-सत्ता से साक्षात्कार की प्रवृत्ति। नरेश मेहता को बार-बार यह लगता है कि उसी आन्तरिक सत्य को छूना है, उसे आत्म साक्षात्कार करना है, उसे ही स्पन्दित करना है। इसीलिए उनकी दृष्टि, उनकी अनुभूति बराबर भाव-वाचक शब्दों की तलाश में बेचैन रहती है। नरेश जी की काव्यानुभूति पर दृष्टि डालने पर एक और बड़ा सत्य उद्घाटित होता है और वह है संसार को समझने और देखने की उनकी प्रज्ञा।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि नरेश मेहता की भाषा का स्वरूप बहुत दूर तक इस देश की

आर्ष-चिन्तन की शब्दावली है। जो पाठक जिस सीमा तक इस शब्दावली से इसकी अन्तरात्मा से परिचित है, उसे उसी सीमा तक नरेश जी का काव्य सुपरिचित लगेगा। उस चिन्तन एवं संस्कारिता से मुक्त व्यक्ति को नरेश जी का काव्य अपरिचित, कृत्रिम एवं आरोपित लग सकता है। क्या है यह वैष्णवी सम्पूर्णत:? वैष्णवता केवल एक शब्द तो नहीं है, एक पूरी संस्कारिता है, पूरा जीवन-दर्शन है। कवि के ही शब्दों का प्रयोग करें, तो जांगलिकता से सांस्कृतिकता की ओर, देह से मन की ओर, जड़त्व से चेतनत्व की ओर जो मानवीय चेतना की यात्रा है, उसे यह वैष्णव-भाव जुड़ा हुआ है।

नरेश मेहता का सम्पूर्ण काव्य इस आर्ष-सम्पदा से परिपूर्ण है। नरेश मेहता अपनी काव्यात्मक अस्मिता के लिए अभिनव वैष्णवता की आवश्यकता अनुभव करते हुए लिखते हैं कि—''यदि भारतीय काव्यात्मकता को संरचनात्मक उपलब्धि तथा पहचान के स्तर पर अपनी अस्मिता को सिद्ध करना है, तो धर्मदृष्टि की इस शिव-वैष्णवता को अभिनव रूप में स्वीकारने में संकोच नहीं होना चाहिए। अपनी धार्मिक-अस्मिता तथा ऐतिहासिक विशिष्टता ही हमारे काव्यात्मक व्यक्तित्व को वानस्पतिक गंध और वाचस्पतिक मंत्रणा प्रदान कर सकती है।

नरेश मेहता की काव्यभाषा उनकी काव्यानुभूतियों को कितनी सफलता से वहन कर पाती है या यूँ कहें कि उनकी काव्यानुभुति कितनी सच्चाई एवं खरेपन के साथ उनकी काव्य-भाषा में अनुदित हो पाती है, रचित हो पाती है, इसकी परीक्षा कोई सरल कार्य नहीं है, क्योंकि यह कार्य शताब्दियों में पूरा होता है। विशेषकर महान कविता की सबसे बड़ी पहचान यही होती है कि वह समय की सीमा किस हद तक तोड़ पाती है।

वाल्मीकि या कालिदास, तुलसी या सूर इसी कसौटी पर महान कवि सिद्ध हुए हैं। अत: किसी भविष्यवक्ता की भाँति यह कहने की कोई सार्थकता नहीं कि आज की कविता का कौन-सा अंश-दीर्घजीवी होगा, परन्तु जो भी कसौटी तात्कालिक रूप से हमें एक श्रेष्ठ काव्य की पहचान कराती है। वह यही है कि किसी कवि की संस्कारिता उसकी काव्यानुभुति और काव्यभाषा को किस सीमा तक जोड़ पाती है और उस जोड़ में वर्तमान की किस सीमा तक संगति एवं सार्थकता बैठती है और भविष्य को कितनी दूर तक आत्मसात किया जा सका है। नरेश मेहता निश्चय ही इस दृष्टि से एक विशिष्ट रचनाकार हैं।

सन्दर्भ-सूची

1. काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, पृ. १
2. काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, पृ. ६
3. काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, पृ. १०
4. काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, पृ. १८
5. काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, पृ. १०
6. काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, पृ. १५
7. काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, पृ. ६५
8. काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, पृ. सं. ८१।
9. काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, पृ. सं.
10. काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, पृ. सं. ८३
11. काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व, पृ. सं. ८५ (२) वही, पृ. ८६

Copyright © 2017, Dr. Martand Singh. This is an open access refereed article distributed under the creative common attribution license which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.